



मौलिक अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्तों में सम्बन्ध का अध्ययन

डॉ. गायत्री मिश्रा¹, विजय कुमार साकेत²

¹प्राध्यापक राजनीति विज्ञान, शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

²शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

सारांश –

संविधान की प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता और सभी व्यक्तियों की गरिमा को सुरक्षित रखने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। भाग 4 में वर्णित नीति-निदेशक सिद्धान्त वे लक्ष्य हैं जिन्हें राज्य को प्राप्त करना है और मौलिक अधिकार वे साधन हैं जिनके माध्यम से उद्देशिका में निहित उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जायेगा।



मुख्य शब्द – संविधान, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय।

प्रस्तावना –

भारतीय संविधान निर्माताओं का उद्देश्य भविष्य में एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने एक ऐसे संविधान की रूपरेखा तैयार की, जिसके आधार पर एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सके। मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएँ हैं, जिनके द्वारा राज्य को यह आदेश दिया जाता है कि उसे लोगों के इन अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करना है। वहीं राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त राज्य को यह बताते हैं कि राज्य को क्या करना है।¹

नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मौलिक अधिकारों में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ मौलिक अधिकार वाद योग्य (Justiciable) है वही नीति-निदेशक सिद्धान्त वाद योग्य नहीं (Non-Justiceable) है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 37 इसकी व्याख्या इस प्रकार से करता है कि इस भाग में अन्तर्विष्ट उपबन्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं होंगे, फिर भी इसके अधिकथित तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।

अनुच्छेद 37 में न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से मुक्त रखने का खण्ड केवल इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता है कि न्यायपालिका राज्य को निदेशक सिद्धान्तों के तहत किसी 'कर्तव्य' को निभाने के लिए विवश नहीं कर सकती है, क्योंकि जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने कहा था, 'जिस राज्य ने अपने मुख्य दायित्वों का निर्वहन करने के लिए अभी-अभी अंगड़ाई ली है, वह तो उनके बोझ तले पिस सकता है यदि उन्हें पूरा करने का क्रम, समय, स्थान और रीति तय करने की छूट उसे नहीं दी जाती।'²

अर्थात् न्यायालय मूल अधिकार से असंगत किसी विधि को अवैध घोषित कर सकता है, लेकिन कोई भी विधि इस आधार पर अवैध नहीं घोषित नहीं की जा सकती है कि वह नीति-निदेशक सिद्धान्तों के विरोध में है

और न ही न्यायालय सरकार को इन निर्देशों के पालन के लिए आदेश ही दे सकती है। उदाहरण के लिए – यदि किसी व्यक्ति को अवैध रूप से गिरफ्तार कर लिया गया है, तो गिरफ्तार किया हुआ व्यक्ति न्यायालय से बंदी प्रत्यक्षीकरण का लेख प्राप्त कर सकता है, किन्तु यदि सरकार अनुच्छेद 50 के अनुसार कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण नहीं करती, तो कोई व्यक्ति न्यायालय से कोई उपचार नहीं प्राप्त कर सकता है।³

विश्लेषण –

नीति-निदेशक सिद्धान्तों तथा मौलिक अधिकारों के परस्पर सम्बन्ध सदैव परिवर्तित होते रहे हैं। भारतीय संविधान लागू होने के समय से ही भाग 3 के मौलिक अधिकारों एवं भाग 4 के राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों के मध्य किसी प्रकार का टकराव नहीं था, क्योंकि नीति-निदेशक सिद्धान्त अपनी प्रकृति से प्रवर्तनीय नहीं हैं।⁴

संविधान के भाग 3 में जो मौलिक अधिकार समाविष्ट किए गये हैं, ये न केवल कार्यपालिका, बल्कि विधानमण्डल की शक्तियों पर भी लगायी गयी सीमाओं के रूप में हैं। इन मौलिक अधिकारों को संविधान में शामिल करने के पीछे हमारे संविधान निर्माताओं का लक्ष्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुरक्षा तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना करना है, जबकि नीति-निदेशक सिद्धान्त तत्कालीन सरकारों, राज्यों के लिए अनुदेश के विलेख के रूप में हैं, जो उन्हें कुछ कार्यों को करने का और कुछ आदर्श प्राप्त करने का निर्देश देते हैं।⁵

वास्तव में नीति-निदेशक सिद्धान्त और मौलिक अधिकार हमारे सांविधानिक ढाँचे के अभिन्न अंग हैं, नीति-निदेशक सिद्धान्त और मौलिक अधिकारों के शीर्षकों के अन्तर्गत संविधान योजना में समतावादी समाज के निर्माण पर और सामाजिक, आर्थिक न्याय की संकल्पना पर बल दिया गया है। यद्यपि निदेशक सिद्धान्तों को विधियों के निर्माण तथा प्रशासन के लिए मार्गदर्शी सिद्धान्त घोषित किया गया है, जिन्हें न्यायालयों में प्रवर्तनीय नहीं बनाया गया है। अतः वे उन दो पक्षों के बीच सूक्ष्म सामंजस्य के प्रतीक हैं, जिन्हें संविधान निर्माताओं ने स्वाधीनता संग्राम के नेताओं के रूप में आदर्श या लक्ष्य माना है और जिसे यथार्थवादियों के रूप में उन्होंने तत्काल व्यवहार्य माना। मूल अधिकार और निदेशक तत्व दोनों ही संविधान की आत्मा हैं।⁶ अधिकारों और कर्तव्यों के बीच या मूल अधिकारों तथा निदेशक सिद्धान्तों के बीच कोई सारभूत विभाजन नहीं है, वे एक दूसरे के पूरक तथा अनुपूरक हैं। यदि मूल अधिकार सरकार और विधायिका के लिए न करने वाली बातों का निरूपण करते हैं, तो निदेशक सिद्धान्त सरकार और विधायिका के लिए कुछ करने वाली बातों का निरूपण करते हैं। इन दोनों के मध्य किसी प्रकार का संघर्ष नहीं पाया जाता है।

संविधान के प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम 1951 को प्रवर समिति को सौंपने का प्रस्ताव पेश करते समय पं. जवाहरलाल नेहरू ने मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के बीच संघर्ष की संभावना का उल्लेख किया था और इस कठिनाई का वर्णन इस प्रकार किया –

“वास्तविक कठिनाई जो हमारे सामने आयी है, वह यह है : संविधान में कुछ निदेशक सिद्धान्तों का निर्धारण किया गया है और लम्बे चौड़े विचार-विमर्श के बाद उनके लिए हमारे बीच सहमति बनी है और उनमें उस रास्ते को निर्देशित किया गया है, जिस पर हमें चलना है।”⁷

“संविधान में कुछ मूल अधिकार भी निर्धारित किए गये हैं। दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त कतिपय लक्ष्य की ओर गतिशीलता का निरूपण करते हैं। मूल अधिकार कतिपय विद्यमान अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए कुछ स्थिरता का निरूपण करते हैं। इस रूप में भी दोनों सही हैं। किन्तु किसी कारण से तथा किसी समय ऐसा हो सकता है कि गतिशीलता और स्थिरता एक दूसरे से ठीक तरह से मेल न खाएं।”⁸

“किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गतिशीलता का निश्चित रूप से यह अर्थ है कि कुछ परिवर्तन हो रहे हैं; यही गतिशीलता का सार है। किन्तु ऐसी स्थिति आ सकती है, जब गतिशीलता की प्रक्रिया से कतिपय वर्तमान सम्बन्धों में परिवर्तन हो जाय, भिन्नता आ जाय या वे प्रभावित हो जायें। वास्तव में, वे स्थापित सम्बन्धों को प्रभावित करने के लिए अभिप्रेत हैं और फिर यदि आप मूल अधिकारों की ओर लौटते हैं, तो उनका अभिप्राय कतिपय स्थापित सम्बन्धों को प्रत्यक्षता नहीं, सुरक्षित रखना है। दोनों रवैयों के बीच टकराव है, जो स्वभावजन्य नहीं है क्योंकि मुझे यकीन है कि आशय यह नहीं है। किन्तु इसमें इस तरह की थोड़ी सी मुश्किल है और

स्वाभाविक है कि जब देश के न्यायालय इन विषयों पर विचार करेंगे, तो उन्हें राज्य के नीति-निदेशक तत्वों की अपेक्षा मूल अधिकारों पर अधिक बल देना होगा। संविधान निर्माण के पीछे जो असल मकसद था, वह यह था कि वह एक गतिशील संविधान बने, जो धीरे-धीरे किन्तु निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर हो। किन्तु गतिशीलता की अपेक्षा स्थिरता पर थोड़ा अधिक बल दिये जाने के कारण इस लक्ष्य की पूर्ति में विघ्न और बाधा आती है और हमें इसके समाधान के लिए कोई न कोई रास्ता ढूँढ निकालना होगा।⁹

“यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए आप सामूहिक असमानता की रक्षा भी करते हैं, तो आपका टकराव निदेशक सिद्धान्तों से होता है जो आपके अपने संविधान के अनुसार क्रमिक समुन्नति चाहता है या हम इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि जहाँ तक संभव हो, एक ऐसी स्थिति की ओर धीरे-धीरे बल्कि अधिक तेजी के साथ बढ़ना चाहते हैं, जहाँ कम से कम असमानता और अधिक से अधिक समानता हो, लेकिन यदि व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा स्वतन्त्रता के लिए किसी प्रकार की अपील का अर्थ वर्तमान असमानता को जारी रखने की अपील माना जाता है, तो आप कठिनाई में फँस जाते हैं। तब आप गतिहीन, अप्रगतिशील बन जाते हैं और परिवर्तित नहीं हो सकते और आप समतावादी समाज के उस आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकते, जो कि मुझे आशा है, हममें से अधिकांश का लक्ष्य है।”¹⁰

न्यायमूर्ति के.एस. हेगड़े के शब्दों में, “मूल अधिकारों का प्रयोजन है कि एक समतावादी समाज का सृजन हो, सभी नागरिकों को सामाजिक प्रपीड़न अथवा प्रतिबंध से मुक्ति मिले और सभी को स्वतन्त्रता सुलभ हो। निदेशक सिद्धान्तों का प्रयोजन है कि कतिपय सामाजिक तथा आर्थिक लक्ष्य निर्धारित किये जाएँ और उन्हें प्राप्त करने के लिए अहिंसक क्रान्ति का सूत्रपात किया जाए। ऐसी सामाजिक क्रान्ति के द्वारा संविधान आम आदमी की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने और हमारे समाज के साँचे-ढाँचे को बदलने का प्रयास करता है। इसका लक्ष्य भारतीय जनता को सही अर्थों में स्वतन्त्र बनाना है।”¹¹

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि संविधान के भाग 4 में ‘राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त’ शीर्षक के अधीन जो घोषणाएँ हैं, वे मूल अधिकारों के रूप में भाग 3 में की गई घोषणाओं से कई मामलों में कहीं अधिक व्यापक है, अतएव इन दोनों प्रकार के उपबन्धों के बीच विरोध की दशा में पूर्विकता का प्रश्न उपस्थित हो सकता है।¹²

नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मौलिक अधिकारों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में न्यायपालिका का दृष्टिकोण सदैव परिवर्तित होता रहा है। *मद्रास राज्य बनाम चंपाकम दाराइ राजन*¹³ के मामले में उच्चतम न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न विचारार्थ आया कि नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों के मध्य विरोध की स्थिति में किसको प्राथमिकता दी जायेगी? इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि ऐसी स्थिति में मूल अधिकार, नीति-निदेशक सिद्धान्तों पर अभिभावी होंगे, क्योंकि अनुच्छेद 37 द्वारा स्पष्टतया नीति-निदेशक सिद्धान्तों को न्यायालयों द्वारा अप्रवर्तनीय घोषित किया गया है। वे भाग 3 में दिये गये उपबन्धों पर अभिभावी (override) नहीं हो सकते हैं, क्योंकि मूल अधिकारों को अनुच्छेद 32 के अधीन समुचित लेखों या निदेशों द्वारा स्पष्टतया प्रवर्तनीय बनाया गया है। मूल अधिकारों वाला अध्याय पवित्रतम अध्याय है और वे केवल उसी अध्याय के विभिन्न अनुच्छेदों में दिए हुए निर्बन्धनों के सिवाय विधायिका या कार्यपालिका के किसी विधान या आदेश से न्यून नहीं किए जा सकते हैं। नीति-निदेशक सिद्धान्त, मौलिक अधिकारों के अनुरूप और उनके सहायक के रूप में रहेंगे।¹⁴ किन्तु एक ही वर्ष बाद सर्वोच्च न्यायालय ने *बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह* मुकदमे में यह निर्णय दिया कि यद्यपि नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याय योग्य नहीं हैं, तथापि राज्य उसकी अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि ये शासन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। कुछ अन्य मामलों में भी सर्वोच्च न्यायालय ने नीति-निदेशक सिद्धान्तों को महत्व प्रदान किया है।

संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम (1976) के पूर्व वैधानिक दृष्टि से नीति-निदेशक सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों की अपेक्षा गौण स्थिति ही प्राप्त थी और दोनों में पारस्परिक विरोध होने की स्थिति में मौलिक अधिकार ही प्रभावी होते थे। लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम द्वारा मौलिक अधिकारों की तुलना में नीति-निदेशक सिद्धान्तों को प्रमुखता की स्थिति प्रदान की गयी। इस संवैधानिक संशोधन की धारा 4 के आधार पर यह व्यवस्था की गयी कि संसद संविधान के भाग 4 (नीति-निदेशक सिद्धान्त) के किसी एक या सभी सिद्धान्तों को लागू करने के लिए जिन किन्हीं कानूनों का निर्माण करे, उन्हें इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि ये कानून संविधान द्वारा दिए गये किसी मौलिक अधिकार को सीमित या समाप्त करते हैं।¹⁵ यह

संशोधन अधिनियम संविधान के भाग 4 के सभी नीति-निदेशक सिद्धान्तों को भाग 3 के मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान करता था। इसके अनुसार निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनायी गयी किसी भी विधि को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि वह अनुच्छेद 14 और 19 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों से असंगत है, उसे छीनती है या न्यून करती है।

1976 में किए गये संविधान के 42वें संविधान अधिनियम द्वारा मूल अधिकारों पर नीति-निदेशक सिद्धान्तों की प्रधानता पूर्णतया स्थापित कर दी गयी। इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 सी में परिवर्तन करके यह व्यवस्था कर दी गयी कि भाग 4 में उल्लेखित सिद्धान्तों में से सभी या किन्हीं सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से बनाए गये किसी कानून की वैधता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है। इस संशोधन के पश्चात् नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में होने वाले वाद-विवाद का अंत हो गया।

1980 में *मिनर्वा मिल बनाम भारत संघ*¹⁶ के मामले में उच्चतम न्यायालय की पाँच न्यायाधिपतियों की पूर्ण पीठ ने 4:1 के बहुमत से संशोधित अनुच्छेद 31(ग) (जो 42 वें संविधान द्वारा संशोधित किया गया था) को इस आधार पर असंवैधानिक घोषित कर दिया कि वह संविधान के मूल ढाँचे को नष्ट करता है। अनुच्छेद 31(ग), समता (अनुच्छेद 14) और स्वाधीनताओं (अनुच्छेद 19) के मूल अधिकारों को नष्ट करता है जो कि स्वतन्त्र लोकतंत्र के लिए आवश्यक है। न्यायालय ने कहा कि नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए मूल अधिकारों को समाप्त करना आवश्यक नहीं है। मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्त दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वास्तव में नीति-निदेशक तत्व वे लक्ष्य हैं जिन्हें हमें प्राप्त करना है, और मूल अधिकार वे साधन हैं जिनके माध्यम से उन लक्ष्यों को प्राप्त किया जाना चाहिए। भाग 3 और भाग 4 के बीच संतुलन भारतीय संविधान की आधारशिला है। अतएव किसी एक भाग को दूसरे भाग पर पूर्ण प्राथमिकता देना इस संतुलन को नष्ट करता है, जो संविधान के 'आधारभूत ढाँचे' का अंग है।¹⁷ अर्थात् 1980 में मिनर्वा मिल निर्णय के पश्चात् मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्धों में पुनः परिवर्तन आया और इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 42वें संशोधन के उस प्रावधान को असंवैधानिक घोषित कर दिया गया, जिसने समस्त नीति-निदेशक सिद्धान्तों की मूल अधिकारों पर प्रधानता स्थापित की थी।¹⁸

वर्तमान स्थिति यह है कि केवल एक नीति-निदेशक सिद्धान्त (अनुच्छेद 39बी तथा सी) ही मौलिक अधिकारों से प्रधान है, शेष सभी नीति-निदेशक सिद्धान्त मौलिक अधिकारों के अधीन है। पिछले कुछ वर्षों में उच्चतम न्यायालय द्वारा कुछ नीति-निदेशक सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों का दर्जा दिया गया है। निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा (अनु0 45), समान कार्य के लिए समान वेतन [अनु0 39 (ख)], निःशुल्क विधिक सहायता [अनु0 39 (क)], तथा श्रमिकों को चिकित्सा पाने का अधिकार इत्यादि को मौलिक अधिकारों का दर्जा दिया गया है।¹⁹

निष्कर्ष:

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नीति-निदेशक सिद्धान्त और मौलिक अधिकार के मध्य न्यायिक बाध्यकारी शक्ति का मौलिक अन्तर है, क्योंकि नीति-निदेशक सिद्धान्त न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं है (अनु0 37)। ये नीति-निदेशक सिद्धान्त कल्याणकारी राज्य के आधार हैं। इन्हें हमारे संविधान निर्माताओं ने भारतीय संविधान में इस आशा के साथ शामिल किया था कि राज्य इन्हें यथासामर्थ्य और यथासंभव लागू करेंगे। भाग 4 में अंतर्निहित नीति-निदेशक सिद्धान्त राज्यों के लिए सकारात्मक कर्तव्य हैं, जिनका भार सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए राज्य पर डाला गया है, किन्तु भाग 3 के मौलिक अधिकारों में भी कुछ सकारात्मक प्रतिषेध है, जो सुस्थापित वर्गों के अतिक्रमण से समाज के हितों और गरीबों के अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं।

संदर्भ –

1. ग्लैडहिल, ऐलेन – द रिपब्लिक आफ इंडिया, पूर्वोक्त, 1951, पृष्ठ 161.
2. कश्यप, सुभाष – हमारा संविधान, पूर्वोक्त, पृष्ठ 123.
3. पाण्डेय, जे. एन. – पूर्वोक्त, पृष्ठ 44.
4. मारकण्डन, के. सी. – डायरेक्टिव प्रिंसिपल ऑफ स्टेट पालिसी इन इंडियन कांस्टीट्यूशन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 35.
5. बसु, डी. डी. – भारत का संविधान – एक परिचय, पूर्वोक्त, पृष्ठ 80.
6. काश्यप, सुभाष – हमारा संविधान, पूर्वोक्त, पृष्ठ 127.
7. नूरानी, ए. जी. – कांस्टीट्यूशनल क्वेश्चन इन इंडिया; द प्रेसीडेंट, पार्लियामेंट एण्ड स्टेट, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ 17.
8. लेले, पी. आर. – कांस्टीट्यूट असेम्बली, फोनिक्स पब्लिशर, बाम्बे, 1946.
9. कौटिल्य – दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया, जमनादास एण्ड कम्पनी, बाम्बे, 2002, पृष्ठ 22.
10. वही, पृष्ठ 23.
11. हेगड़े, के. एस. – डायरेक्टिव प्रिंसिपल ऑफ स्टेट पालिसी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 48.
12. बसु, डी. डी. – भारत का संविधान – एक परिचय, पूर्वोक्त, पृष्ठ 80.
13. चम्पाकम दोराई – राजन बनाम मद्रास राज्य, ए. आई. आर., 1951, एस. सी. 228.
14. चम्पाकम दोराई – राजन बनाम मद्रास राज्य, ए. आई. आर., 1951, एस. सी. 228.
15. जैन, पुखराज – भारत का संवैधानिक और राजनीतिक विकास, 2001, साहित्य भवन, आगरा, पृष्ठ 47.
16. मिनर्वा मिल लि. एवं अन्य बनाम – भारत संघ व अन्य, (1980) 2 एस.सी.सी. 591.
17. पाण्डेय, जे. एन. – भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ 380.
18. सर्ईद, एस. एम. – भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 2010, पृष्ठ 63.
19. वही, पृष्ठ 22.